

ॐ नमः शिवाय
तृतीयो अध्यायः



श्रीकृष्ण अर्जुन
'कर्मयोग संवाद'
अध्याय

दोहा- ब्राह्मी स्थिति जीव की, जीवन का अवशेष।
सुनकर अति हर्षित हुये, गंगा उमा, महेश॥

पार्थ बोले श्रेष्ठ जग में, ज्ञान ही यदि मान्य है।
तब ये दुष्कर कर्म करना, जीव का अज्ञान है॥ 01

ज्ञान से स्वयमेव माधव, हित मेरा निहितार्थ है।
फिर नियोजन कर्म में क्यों, पूछता यह पार्थ है॥ 02

ज्ञान से? या कर्म से? मोहन न यों मोहित करें।
किस तरह कल्याण है, वह मार्ग स्थापित करें॥ 03

सांख्य से पालन करे, या कर्म योगी कर्म से।
लक्ष्य पायेगा वही, विचलित न हो जो धर्म से॥ 04

यदि अकर्मक! सांख्य योगी भी नहीं, ये मर्म है।
नैष्कर्मक तब है, जब कर्ता वो कोई कर्म है॥ 05

कर्म के ही हेतु निर्मित, कर्म का यह लोक है।
एक क्षण बिन कर्म के, चलता नहीं भूलोक है॥ 06

मन विषय रत् किन्तु हठ निग्रह का यदि आचार है।
मूढ़ दम्भी उस जितेन्द्रिय का ये मिथ्याचार है॥ 07

किन्तु शासित इन्द्रियों पर, हर समय मन ज्येष्ठ है।
कर्म योगी आचरण करता वही नर श्रेष्ठ है॥ 08

शास्त्र सम्मत कर्म करने में ही सुख उत्साह है।
कर्म बिन इस देह का होता नहीं निर्वाह है॥ 09

भोग साधक कर्म ही इस जीव के भव जाल हैं।
यज्ञ कर्मों से यहां, मिटते सभी जंजाल हैं॥ 10

कर्म जब अनिवार्य है, तो लोक हित कर, धर्म कर।
त्याग कर आसक्ति अर्जुन, यज्ञ के हित कर्म कर॥ 11

यह व्यवस्था ब्रह्म ने की, सृष्टि के आरम्भ में।
सब प्रजायें वृद्धि पायें, यज्ञ के सत्संग में॥ 12

यज्ञ हवि से तुष्ट होते, स्वर्ग के सब देव हैं।
और फिर रखते प्रजा कल्याण का ही ध्येय हैं॥ 13

भोग, धन, यश, बुद्धि दाता, जब प्रजा की ओर है।
बिन चढ़ाये भोग फल जो भोगता वह चोर है॥ 14

पंच भूतों से बनाई ब्रह्म ने यह सृष्टि है।
भूमि, पावक, गगन, वायु और यह जल वृष्टि है॥ 15

इन सभी भूतों का आपस में सहज अनुराग है।
लोक संचालन में इन सबका बराबर भाग है॥ 16

इन सभी का संतुलन नर जीव के अधीन है।
बिन यथोचित भाग खाये अन्न वो नर हीन है॥ 17

सांख्य योगी, कर्म योगी, धीर नर व विशिष्ट है।
पंच भूती यज्ञ का जो भोगता अवशिष्ट है॥ 18

पंचभूतों से बनी सबकी यहां पर देह है।
और चिता की आग का सब पर बराबर नेह है॥ 19

जैव भौतिक तत्व सारे अन्न से उत्पन्न है।
अन्न हो उत्पन्न भू यदि वृष्टि से सम्पन्न है॥ 20

वृष्टि होती यज्ञ से और यज्ञ वैदिक कर्म से।
वेद अर्जुन है प्रकट परमात्मा के धर्म से॥ 21

अस्तु अर्जुन सर्वगत मैं नित्य हूँ सर्वज्ञ हूँ।
सर्व व्यापी परम अक्षर मैं स्वयं ही यज्ञ हूँ॥ 22

लोकहित कर चक्र का समझा नहीं जो अर्थ है।
उस कृतघ्नी जीव का जीवन ही समझो व्यर्थ है॥ 23

आत्म रमणी, आत्म तृप्ती आत्मवत सन्तुष्ट है।
लोक कर्मों में पुरुष का फिर न रहता इष्ट है॥ 24

जो सतत कर्तव्य पथ गामी विगत संदेह है।
उस मनुस्वी का हृदय परमात्मा का गेह है॥ 25

शीर्षजन करते सदा जिस मार्ग का स्पर्श हैं।
लोक जन सब मानते उस मार्ग को आदर्श हैं॥ 26

लोक संग्रह हेतु करना कर्म जिसका ध्येय है।
उस पुरुष का आचरण हर काल में ही गेय है॥ 27

प्रथम युग में हर पुरुष मानों स्वयं वेदान्त था।
लोक संग्राहक बने हर कर्म यह सिद्धान्त था॥ 28

और त्रेताकाल में भी श्रेष्ठ नर थे सिद्ध थे।
जनक, जीवन मुक्त, ज्ञानी, मूर्धन्य प्रसिद्ध थे॥ 29

सिद्धि दाता फल प्रदाता योगरत निष्कर्म हूँ।
लोक संग्रह हेतु तत्पर, मैं निरत हर कर्म हूँ॥ 30

अस्तु तेरा लोक हितकर कर्म ही आराध्य है।
जन्म लेकर नैष्कर्मक कर्म करना साध्य है॥ 31

यदि कदाचित्त मैं स्वयं ना कर्म का संज्ञान लूँ।
हों प्रमादी लोकजन यदि मैं स्वयं विश्राम लूँ॥ 32

मैं विधाता हर व्यवस्था में मेरा आलोक है।
मेरी निष्क्रियता में निष्क्रिय लोक क्या त्रैलोक है॥ 33

जिस तरह अज्ञान वश आसक्त करते कर्म हैं।
यों विरत हो लोक संग्रह कर्म करना धर्म है॥ 34

किन्तु ज्ञानी कर्म में शास्त्रार्थ न पैदा करें।
लोक मन में कर्म हित पुरुषार्थ ही पैदा करें॥ 35

मोहरत आसक्त में न बुद्धि भ्रम उत्पन्न हो।
शास्त्र सम्मत रीति से ही कर्म सब सम्पन्न हो॥ 36

प्रकृति रचना से बनी हर कर्म की सारी क्रिया।
और हर गुण जानता हर कर्म की हर प्रक्रिया॥ 37

है नहीं आसक्त ज्ञानी जानकर इस मर्म को।
मूढमति आसक्त कहता मैं ही करता कर्म को॥ 38

प्रकृति गुण मोहित पुरुष यह सृष्टि संचालित करें।
अस्तु कर्मासक्त को ना कर्म से विचलित करें॥ 39

मम समर्पित कर्म करके आत्मा समृद्ध कर।
त्यागकर सन्ताप, ममता, पार्थ उठकर युद्ध कर॥ 40

भक्ति और विश्वास रख, ना छिद्रान्वेषण करें।
मत्परायण कर्मयोगी कर्म बन्धन से तरे॥ 41

इस व्यवस्था का विरोधी मोहरत पथ भ्रष्ट है।
ज्ञान मोहित मूर्ख का जीवन ही समझो नष्ट है॥ 42

जन्म जन्मान्तर से पाता व्यक्ति जो संस्कार है।
प्रकृति वश वह तत् सदृश करता यहां व्यवहार है॥ 43

प्रकृति बंधित जीव सारे कर्म के आधीन है।
किन्तु उनके धर्मगुण हर जन्म में स्वाधीन है॥ 44

सद् गुणाकर धर्म से यदि कर्म में लयलीन है।
तो प्रकृति उस जीव के होती स्वयं आधीन है॥ 45

इन्द्रियों के विषय से जिसका नहीं मन्तव्य है।
सद्गुणी, सन्मार्गी पाता यहां गंतव्य है॥ 46

लोक भावन, मन लुभावन कितना ही रमणीक है।
पार्थ पर हर धर्म से, निज धर्म उत्तम ठीक है॥ 47

धर्म हित तो मृत्यु पाकर भी न मन आक्रान्त हो।
राज्य सुख भी दूसरे के धर्म से भयक्रान्त हो॥ 48

दोहा- सत्य, धर्म, नैष्कर्म से होता जीव सनाथ।
तब सुनि समुद्रि अनीतरत क्यों होता है नाथ॥

राजस धर्मी काम यह करता है अति क्रोध।
अति अतृप्त बैरी प्रबल, जीव न रखता बोध॥

अग्नि को ज्यों धूम्र, दर्पण, मैल आच्छादित करे।
इस तरह ही काम अर्जुन ज्ञान को बाधित करे॥ 49

ज्यों कभी घृतदान से अग्नि नहीं संतृप्त है।
भोग साधन से हमेशा काम ही अतृप्त है॥ 50

इन्द्रियां, मन, बुद्धि सबही इसके वास स्थान है।
जिसमें बन्दी ज्ञान को मिलता न नया विहान है॥ 51

ऐसे दुर्जय शत्रु से अर्जुन कठिन संग्राम ले।
कर विवश इस घोर पापी दुर्ग पति के प्राण ले॥ 52

मात्र भौतिक देह से ही जीव यह निरुपाय है।
सूक्ष्म तत्त्वों से असीमित शक्ति का समुदाय है॥ 53

तन से इन्द्रिय, इन्द्रिय से मन, मन से बुद्धि ज्येष्ठ है।
बुद्धि से यह आत्मा अतिशय प्रबल है श्रेष्ठ है॥ 54

काम अति दयनीय दुर्बल हर तरह से हीन है।
बुद्धि, मन अति भ्रमित कर इस देह में आसीन है॥ 55

इन्द्रियों के मार्ग से बढ़ता विकट प्रावलय है।
इस छली को मार्ग देना बुद्धि का सारल्य है॥ 56

अति प्रबलतम आत्मा की शक्ति का संज्ञान ले।
अब न पावन देह में इस काम को स्थान दे॥ 57

यह कथा कुरुक्षेत्र की गीता का सारा चित्र है।
काव्य रचना कर रहा गोविन्द सरला पुत्र है॥ 58

दोहा- हुआ तीसरे नेत्र में मानों फिर आलोक।
हिय हर्षित कामारि तब मन को सके न रोक॥

था अपराधी बोध प्रभु किया काम का अन्त।
अब जाना यह आपने चाहा था भगवन्त॥

इति श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद कर्मयोग
तृतीय अध्याय समाप्त।